सद्गुरवे नमः

# ध्यान क्या है?



**अभिलाष दास**

सद्गुरवे नमः

# ध्यान क्या है?




अभिलाष दास

प्रकाशक
कबीर पारख संस्थान
संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-211011
Visit us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार वि०सं० 2052 सन् 1995
तेरहवीं बार वि०सं० 2073 सन् 2016
सत्कबीराब्द 618

ISBN : 81-8422-074-x



मूल्य : ₹ 6.00

मुद्रक
जे.के. आर्ट प्रेस
गाड़ीवान टोला, इलाहाबाद

# निवेदन

बीजक, कबीर दर्शन, मोक्ष शास्त्र, सहज समाधि कल्याणपथ, शाश्वत जीवन, योग क्या है आदि अनेक ग्रंथों में ध्यान-समाधि के निर्देश भरे हैं, किन्तु जिस ढंग से हम लोग ध्यानाभ्यास करते हैं उसके व्यावहारिक स्वरूप के विवरण का कोई स्वतंत्र ग्रंथ संस्थान में नहीं था। इस बात पर कई बार चित्त जाता था। अतएव उपर्युक्त दृष्टिकोण को लेकर प्रस्तुत पुस्तक लिख दी गयी। लिखते समय यह ध्यान रखा गया कि कम पढ़े-लिखे लोग भी सरलता से समझ सकें।

गृहस्थ हो या विरक्त, बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, सबको ध्यानाभ्यासी होना चाहिए। प्रात:-सायं समय निकाल कर यदि प्रतिदिन ध्यानाभ्यास किया जाय तो मन की शांति तो मिलेगी ही, स्वभाव सुधरेगा, शरीर तथा मन के सभी रोग घटेंगे, स्मरण-शक्ति बढ़ेगी और जीवन की सभी दिशाएं कल्याणकारी होंगी। श्रेणी, शक्ति और योग्यता के अनुसार प्रतिदिन कम से कम आधा घंटा से लेकर एक घंटा, दो घंटे या जितना संभव हो नित्य ध्यान करना चाहिए।

समय-समय से ध्यान शिविरों में सम्मिलित होकर ध्यान करने से ध्यान की शक्ति बढ़ेगी। कल्याणार्थी गृहस्थ-विरक्त, स्त्री-पुरुष और बालक-वृद्ध इस पर पहल करें और मानव-जीवन का परम फल शांति प्राप्त करें।

कबीर संस्थान इलाहाबाद
कबीर जयंती ५९६
ज्येष्ठ पूर्णिमा २०५२
१३-६-१९९५

विनम्र
अभिलाष दास

सद्गुरवे नमः

# ध्यान क्या है?

## ध्यान क्या है?

पूर्णतया कुछ न करने की स्थिति ध्यान है, अर्थात पूर्ण जाग्रत में संकल्प-हीन हो जाना ध्यान है। जब सारी इंद्रियां शांत हों और मन कुछ न सोचता हो, यह ध्यान की स्थिति है।[१]

सद्गुरु कबीर ने बीजक के कहरा प्रकरण के प्रथम कहरा में कहा है—"सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु"। यह प्रथम कहरा इकतीस पंक्तियों का लंबा है और ध्यान की सामग्री से भरा है। प्रारंभ में हीं सहज ध्यान में रहने की बात कही गयी है। हर मनुष्य में लिंग, अवस्था, आकार तथा नाना योग्यताओं में अंतर होने से बाह्य स्थितियों में सहजता नहीं होती, अपितु विषमता

---

१. मन का निर्विषय हो जाना ध्यान है यथा—"ध्यानं निर्विषयं मनः॥ (सांख्य दर्शन ६/२५)

होती है, किंतु सबके भीतर शुद्ध चेतना समान होने से चेतन ही व्यक्ति का सहज स्वरूप है। संकल्पों को छोड़ने के बाद स्वयं शुद्ध चेतन ही बच रहता है। यह चेतन की अपने स्वरूप में स्थिति है। संकल्पों के शून्य होने पर शांति और शुद्ध चेतना ही शेष रहती है, यही सहज ध्यान या सहज समाधि है। सद्गुरु कबीर ने "संतो सहज समाधि भली" तथा "सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु" दोनों प्रकार से कहा है।

## एकाग्रता और उससे लाभ

मनुष्य की इंद्रियां स्वाभाविक बाहर की तरफ खुली हैं। इसी से जीवन और संसार के काम संपन्न भी होते हैं। इंद्रियों से बहिर्मुख व्यवहार करते-करते मन भी बहिर्मुख बना रहता है। जीवन में धीरे-धीरे बहिर्मुखता की ऐसी आदत बन जाती है कि हर क्षण बहिर्मुख बने रहने की दशा हो जाती है। आवश्यकतानुसार बहिर्मुखता का काम करके फिर मनुष्य अंतर्मुख होने का साधन करे, ऐसी समझ किसी-किसी को हो पाती है। इस समझ तथा साधना के अभाव में मानव भीतर-भीतर असंतोष की भट्ठी में जलता है। मनुष्य चाहे जितनी उन्नति कर ले, परंतु अंतर्मुख हुए बिना शांति नहीं पा सकता।

मोटा-महीन कोई भी काम हो, उसे तभी अच्छी तरह से संपन्न किया जा सकता है जब एकाग्र मन से

किया जाय। चंचल मन से किया हुआ सारा काम बिगड़ता है। चाहे लेख लिखना हो या हल जोतना हो, विद्या पढ़ना हो या रोटी पकाना हो, वैज्ञानिक अनुसंधान करना हो या घास छीलना हो, स्वरूपस्थिति की ऊंचाई पर चढ़ना हो या व्यापार करना हो, सब में एकाग्रता की आवश्यकता है।

जिसकी चर्चा आगे की जायगी, सामान्य क्रिया-योग से अर्थात किसी भी शुद्ध काल्पनिक आलंबन, सहारा एवं आधारबिंदु में मन एकाग्र करने के अभ्यास से भी एकाग्रता आती है और सामान्य साधक को भी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक लाभ होता है और उसके अपने क्षेत्र में उन्नति के द्वार खुलते हैं।

जैसे नियमित एवं संतुलित आहार-विहार करने से शरीर हृष्ट-पुष्ट बनता है, वैसे नित्य ध्यानाभ्यास करने से मन सुदृढ़, एकाग्र एवं शांत होता है। किशोर एवं युवक प्रायः शिकायत करते हैं 'हम जो कुछ पढ़ते हैं, ज्यादातर भूल जाता है।' यदि वे थोड़ा-थोड़ा नित्य ध्यानाभ्यास करें तो उनकी स्मृति-शक्ति निश्चित ही बढ़ेगी और सुदृढ़ होगी। ध्यान तथा एकाग्रता से रक्तचाप, हृदय-गति, मस्तिष्क तथा शरीर की सारी व्यवस्थाओं में अचूक लाभ होता है। ध्यानाभ्यास से जीवन के अंतिम फल—भवव्याधि का नाश तथा परम शांति की प्राप्ति तो होती ही है, वह शारीरिक तथा सांसारिक सुख तथा उन्नतियों में भी परम सहायक है।

## ध्यान के लिए पूर्व तैयारियां

**भोजन**

मांस, मछली, अंडा तथा हर प्रकार के मादक खाद्य तथा पेय पदार्थों का त्याग करना चाहिए। लहसुन और प्याज उत्तेजक तथा दुर्गंध युत होने से त्याग देना चाहिए। भोजन सात्विक, सुपाच्य और शुद्ध ग्रहण करना चाहिए। जलपान तथा भोजन संतुलित मात्रा में लेना अति आवश्यक है। ज्यादा खाने वाला ध्यानाभ्यास में सफल नहीं हो सकता। मनुष्य ज्यादा खाकर शारीरिक और मानसिक बीमारी बुलाता है।

घर-द्वार, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि त्याग देना सरल है, परंतु सात्विक और संतुलित भोजन करना, अर्थात कम खाना सरल नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनी भी खाने-पीने में असावधानी करके हर प्रकार के दुख बुलाते हैं। घर-परिवार तो एक बार छोड़ दिया और वह छूट गया, परंतु भोजन तो छोड़ा नहीं जा सकता। उसे प्रतिदिन एक या दो बार तो खाना ही है। जिसका प्रयोग रोज करना हो उसमें बड़ी सावधानी रखने वाला ही सफल होता है। भोजन-जलपान नित्य करना है, तो सतत सावधान रहने से ही उसमें संतुलन बनाये रखा जा सकता है।

बराबर गरिष्ठ तथा अधिक भोजन करने से वह ठीक से पचता नहीं है। उसका बहुत-सा अंश आंत में

चिपक जाता है और सड़ता है जिससे गैस बनकर नई-नई बीमारियां पैदा होती हैं और टट्टी साफ नहीं होती हैं, कब्ज बना रहता है। ऐसी स्थिति में सब प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्ट पैदा होते हैं। सुपाच्य और हलका भोजन करने से वह ठीक से पचता है और समय पर टट्टी साफ उतर जाती है। ऐसी स्थिति में शरीर नीरोग तथा मन प्रसन्न रहता है।

सब प्रकार की मिर्च तथा गरम मसाले का त्याग आवश्यक है। हलकी-सी हल्दी, जीरा, धनिया आदि सरल मसाले और हलका-सा नमक दाल-सब्जी में डालना काफी है। भोजन सादा होना ध्यान के लिए ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है।

जलपान हो या भोजन, कम खाने में ही शारीरिक तथा मानसिक सुख मिलेगा। डट कर खाने वाला ध्यान क्या करेगा, शारीरिक सुख भी नहीं पायेगा। हमारी यह पक्की समझ बन जाना चाहिए कि कम खाने में ही हमारा सब प्रकार से हित तथा सुख है। ज्यादा खाने का प्रलोभन तथा स्वादासक्ति महा निकृष्टता है, साथ-साथ लोगों को यह भी भ्रम है कि डट कर खाने से बल बढ़ेगा और स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, जबकि इससे उलटा परिणाम निकलता है।

जब कम खाने में पक्का लाभ निश्चय रहेगा तभी खाते समय उसके लिए सावधानी बनी रहेगी। रोज-रोज के खाने से हमें अपने खाने की मात्रा का ज्ञान रहना

चाहिए। भूल हो जाये तो पुनः सुधार करना चाहिए।

जब आवश्यकता भर भोजन पेट में पहुंच जाता है तब भीतर से आवाज आ जाती है कि अब बस, पूरा हो गया, परंतु प्रलोभन तथा भ्रम-वश मनुष्य ज्यादा खा लेता है। हम यह ध्यान रखें कि यदि हमारे भोजन करने में पंद्रह मिनट लगते हैं तो जब भोजन करते दस-बारह मिनट हो जायं तब सावधान हो जाना चाहिए। अंतिम के दो-चार मिनट ही खतरे के मिनट होते हैं। भोजन-काल के अंतिम में सावधान हो जाने पर भोजन हलका रहेगा। किसी समय भोजन भारी हो जाय तो अगले समय या तो कुछ न खाया जाय या बहुत कम खाया जाय, तो पुनः संतुलन हो जायगा। यह पक्की धारणा बना लेना चाहिए कि सात्विक, सुपाच्य, शुद्ध और स्वल्प भोजन करना स्वास्थ्य और ध्यान दोनों के लिए हितकर है।

**ब्रह्मचर्य**

साधु, ब्रह्मचारी, साधिका, छात्र-छात्रा तथा सभी अविवाहित साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें। साधक स्त्री के तथा साधिका पुरुष के संग-दोष, चिंतन, चितवन आदि में न पड़ें। अष्टमैथुनों का त्याग करके मन, वाणी तथा इंद्रियों को पवित्र रखें। साधक तथा साधिका अपने इंद्रिय तथा मन पर सब समय सावधान रहें। गंदी संगत, गंदी चर्चा तथा गंदे स्मरण से मन विकारी होता है।

सामान्य व्यक्ति ही नहीं सामान्य साधक को भी भ्रम होता है कि मैथुन-क्रिया का त्याग तो हो सकता है, परंतु मन की विषय-वासना का त्याग नहीं हो सकता, क्योंकि उनका मन पूर्ण निर्विषय नहीं हो पाता। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि निरंतर दृढ़ साधना से मन की विषय-वासना का पूर्ण अभाव होता है। परिपूर्ण साधक का प्रातःकाल नींद से उठने के बाद से लेकर पुनः रात में नींद में जाने तक के पूरे समय में मन पूर्ण रूप से निर्विषय, निर्मल तथा पूर्ण शुद्ध रहता है। उसकी ऐसी दृढ़ धारणा तथा साथ-साथ स्वभाव-सिद्ध सावधानी हो जाती है कि उसका मन सदैव निर्विषय बना रहता है। साधक तथा साधिकाओं को इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतत सावधान रहना चाहिए।

सामान्य साधक तथा छात्र-छात्राओं को चाहिए कि वे उपर्युक्त लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नवान रहें।[१] यदि उनके मन में विषय-वासनाएं आ जाती हैं तो उस बात को लेकर वे साहसहीन न हों, किन्तु उन्हें दूर करते रहें और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहें। गृहस्थ अर्थात विवाहित स्त्री-पुरुष जितना संभव हो ब्रह्मचर्य का पालन करें। एक-दो संतान पैदा हो जाने के बाद तो उन्हें भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। निरर्थक ही नहीं, अनर्थक मलिन विषयों में डूबने से क्या उत्तम फल

१. इसके लिए लेखक का "ब्रह्मचर्य जीवन" पढ़ने योग्य है।

हो सकता है!

**वाक्यसंयम**

ध्यानाभ्यासी साधक को वाक्य-संयमी होना चाहिए जितना बन सके कम बोलना चाहिए। अधिक बोलने से असत्य, कटु, अश्लील तथा निरर्थक वचन हो सकते हैं अधिक बोलने से मन चंचल होता है। अतएव ध्यानाभ्यासी साधक अधिकतम मौन रहे। वह उतना ही बोले जितना अत्यंत आवश्यक हो। साधक जितना बोले वह अत्यंत निर्मान और मीठा हो।

**व्यवहार की सरलता**

साधक का व्यवहार सरल होना चाहिए। वह किसी से न ममता-मोह करे और न द्वेष करे। कलह तथा राग-द्वेष करने वाले, कटु बोलने वाले, वाद-विवाद करने वाले, लाग-डाट करने वाले, अहंकार और ममकार का काम करने वाले का मन सरल नहीं हो सकता। टेढ़ा मन वाला उलझा व्यक्ति ध्यान में नहीं प्रवेश कर सकता। अतएव साधक का मन सरल, कोमल तथा आकाश के समान स्वच्छ होना चाहिए।

**सेवा**

आलसी तथा कामचोर व्यक्ति साधक नहीं हो सकता। देश, काल, भूमिका, परिस्थिति और अपनी योग्यता के अनुसार जो खुले दिल से सेवा-परायण नहीं

होगा, उसका हृदय शुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध हृदय हुए बिना साधना में प्रगति नहीं हो सकती। साधक को सेवा-परायण होना चाहिए। सेवा करने योग्य समय में ध्यान में बैठ जाना गलत है।

### सत्संग और स्वाध्याय

साधक प्रायः शिकायत करते हैं कि हम बहुत दिनों से साधना में लगे हैं, परंतु अपेक्षित सफलता नहीं मिल रही है। वस्तुतः मन में वैराग्य की कमी के कारण ही साधना में सफलता नहीं मिलती। इसके लिए समय-समय पर साधन-संपन्न संतों की संगत होना चाहिए, और विवेक-वैराग्य के विवेचन से भरे सद्ग्रंथों का अध्ययन खूब होना चाहिए।

अच्छे संतों का सब समय मिलना दुर्लभ है और मिलने के समय भी वे सब समय उपदेश नहीं देते रह सकते, परन्तु सद्ग्रंथों का स्वाध्याय जब अवसर हो तब करना अत्यंत सरल है। सद्ग्रंथ साधक के परम मित्र हैं। अतएव साधकों को जितना समय मिले, सद्ग्रंथ खूब पढ़ना चाहिए। इससे मन के विवेक-वैराग्य प्रखर होंगे।

## सेवा तथा सम्मान पाने की इच्छा का त्याग

कोई मेरे कपड़े धो दे, बरतन मांज दे, बिस्तर बिछा दे, या अन्य सेवाएं कर दे—यह व्यामोह साधक के लिए विष है। बिना कोई शारीरिक कष्ट के शरीर-मर्दन कराने की इच्छा तो बिलकुल निरर्थक है और अपने

आपको मानस-रोगी बनाना है। ऐसी स्थिति में शुद्ध साधना नहीं हो सकती।

सेवा लेने की आदत वालों को मन में खिन्नता बनी ही रहती है। कोई कपड़े धो दिये तो खुश, न धोये तो दुख, सेवा कर दी तो प्रसन्नता, अन्यथा द्वेष। शांति-इच्छुक साधक को दूसरे योग्य गुरुजनों की सेवा यथायोग्य करना चाहिए, परंतु किसी से अपनी सेव करवाने की बात तो सोचना भी नहीं चाहिए। साधक दूसरों से सेवा लेने से बचे। किसी से सेवा लेगा तो उसके प्रति मोह बनेगा। जब सेवा में अधूरापन दिखेग तब द्वेष बनेगा। इस प्रकार सेवा लेने का इच्छुक राग-द्वेष का शिकार हो जायेगा।

गुरु बनने पर शिष्यों से सेवा लेने की बात आती है, और यह महा रोग है। अतः साधक को गुरु बनने से बचना चाहिए। पूर्ण आत्मनियंत्रण प्राप्त होने के पहले गुरु बन जाना अपना घोर पतन करना है। वैराग्यहीन गुरु राग-द्वेष, पर-निंदा, पर-संताप आदि में स्वयं जलते हैं और बिगड़ी घड़ी बनकर समाज को प्रदूषित करते हैं, अतः स्वरूपस्थिति एवं अखंड शांति का साम्राज्य पाने का इच्छुक साधक गुरु बनने तथा सेवा लेने से सदैव दूर रहे।

सम्मान पाने की भूख भी साधक के लिए भयंकर जहर है। पद, अधिकार, सम्मान आदि की इच्छा

रखकर साधना नहीं की जा सकती है। सेवा-सम्मान पाने की इच्छा रखने वाले साधक को सेवा-सम्मान देने वालों का गुलाम बनना पड़ेगा और उनके द्वारा यह सब न मिलने पर द्वेष की आग में जलना पड़ेगा।

जो परम विवेकी, पूर्ण स्ववश तथा अपने स्वरूपस्थिति-लक्ष्य को प्राप्त पुरुष हैं, वे अपने मन में किसी से सेवा तथा सम्मान पाने की इच्छा नहीं रखते। कोई सेवा-सम्मान देता है तो उनसे वे भरसक बचना चाहते हैं। जो उन्हें स्वीकारना पड़ता है, उनमें वे मोह नहीं करते। उनकी सेवा करने वाले साधक से जो सेवा के काम छूट जाते हैं उन्हें वे स्वयं सरलता से कर लेते हैं और इसके साथ सेवा करने वाले अपने साधक से प्रसन्न रहते हैं। वे समझते हैं कि हमें अपने शरीर निर्वाह का सारा काम स्वयं करना चाहिए। यदि कोई उसमें हमारा कुछ सहयोग करता है तो उसको धन्यवाद देना है और उससे जो काम छूट जाय उसे प्रसन्नता से कर लेना है।

वस्तुतः साधक वही हो सकता है जो सबसे असंग, अनासक्त, स्वावलंबी, इच्छाहीन तथा निष्काम है। ऐसा साधक निस्पृह रहने से राग-द्वेष-हीन सबसे शुद्ध प्रेम का व्यवहार करने वाला होता है।

## ध्यान के लिए उचित भूमिका

जन-शून्य एकांत स्थल ध्यान के लिए उचित

भूमिका है, वह चाहे बाग, जंगल, नदीतट, पर्वत तथा गुफा हो और चाहे शून्य-सदन तथा एकांत कोठरी हो। जीवन-यात्रा में जब जो सुलभ हो, उसका उपयोग करना चाहिए। मुख्य बात यह है कि जन-शून्य, नीरव, शांत तथा एकांत स्थान होना चाहिए, साथ-साथ वह स्वच्छ, हवादार और अनुकूल हो।

## आसनी तथा आसन

जहां बैठकर ध्यान किया जाय वह जगह न ऐसी नीची हो कि वहां सीलन हो और न तो ऐसी ऊंची हो कि ध्यानावस्था में कदाचित तंद्रा-निद्रा आ जाय तो साधक नीचे गिर कर हाथ-पैर तोड़ ले। सम भूमि हो। बैठने की आसनी इतनी हलकी एवं पतली न हो कि पैर दुखे तथा इतनी मोटी तथा गुदगुदेदार न हो कि साधक उस पर स्थिर होकर न बैठ सके। आसनी मध्यम मोटाई में हो, जिससे आराम से देर तक बैठा जा सके।

प्रश्न होता है कि साधक किस आसन से ध्यान में बैठे! उत्तर में समझना चाहिए कि जिस आसन से सुखपूर्वक विलंब तक बैठा जा सके वही आसन ठीक है। वैसे पालथी मारकर तथा सिर, ग्रीवा एवं रीढ़ को सीधी करके बैठना उत्तम है। बैठने में दोनों पैरों के तलवे को दोनों जंघों के नीचे करके, या एक पैर को दूसरे पैर के ऊपर करके या दोनों पैरों के तलवे को दोनों जंघों के ऊपर करके बैठा जा सकता है। इसमें

कोई प्रतिबंध नहीं है। जिस आसन से बैठने में जिसे सुविधा लगे उस आसन से बैठे। यह आवश्यक है कि रीढ़, ग्रीवा तथा सिर एक सिधाई में रखकर पीठ तानकर बैठना चाहिए।

इस समय धीर-धीरे गहरी सांस लेने से सीना फूल जाता है और पेट पतला हो जाता है। यदि इस दशा को देर तक साधा जाय तो ध्यान में सरलता होगी और अच्छा व्यायाम भी हो जायेगा। देर तक रीढ़, ग्रीवा और सिर सीधा रखने से उनमें दर्द का अनुभव हो सकता है। ऐंसी स्थिति में थोड़ा समय जरा ढील होकर बैठा जा सकता है और आराम मिलने पर पुनः सीधा हो जाना चाहिए। ध्यान की दशा में कपड़े ढीले पहनना बहुत जरूरी हैं। साधु-संतों के कपड़े स्वाभाविक ढीले रहते हैं। ध्यान के समय आंखें बंद होना चाहिए। यदि नींद का भय हो तो थोड़ी खुली हुई सामने स्थिर होना चाहिए। वैसे बंद आंखें ठीक हैं।

## ध्यान के लिए आलंबन

वस्तुतः संकल्पों-स्मरणों का पूर्ण शून्य हो जाना ध्यान है, परंतु हर प्रकार के साधक इस अवस्था में तुरंत नहीं पहुंच सकते। अतएव उनके लिए क्रिया-योग अर्थात कोई आधार लेकर मन रोकने का साधन अधिक सरल है। इसके विषय में कुछ आगे निवेदन किया जाता है।

**साकार योग**

किसी विरक्त संत पुरुष या जिसका जो इष्ट हो ऐसे महापुरुष का चित्र मन में लेकर उसी में चित्त का निग्रह करना चाहिए। दूसरी बातें न सोचकर अपने इष्ट की आकृति में ही मन बराबर जोड़ते रहने से एकाग्रता बढ़ती है।

**दृष्टि योग**

ध्यान की मुद्रा में बैठने पर आंखें बंद होना चाहिए। बंद आंखों में अंधकार दिखता है। यदि ध्यान का कक्ष प्रकाशमय है तो प्रकाश दिखेगा। ज्यादा समय आंखें बंद किये रहने पर उनमें स्वाभाविक प्रकाश दिखने लगता है, क्योंकि आंखों में गरमी होती है।

यदि बंद आंखों में अंधकार दिखे तो उसमें ही मन को रोका जा सकता है। उस समय सावधान रहकर अन्य कुछ न सोचे, अपितु केवल अंधकार को ही देखता रहे। ऐसा अभ्यास देर तक करने से मन एकाग्र एवं शांत हो जाता है।

यदि बंद आंखों में प्रकाश दिखने लगे तो उसी को देखने में मन को लगा देना चाहिए। अन्य कुछ न सोचकर केवल उस प्रकाश को ही देखता रहे। इससे मन शांत हो जायेगा।

**स्वर योग**

ध्यान के समय आंखें तो बंद होनी ही चाहिए।

साधक अपने श्वास पर चित्त केंद्रित करे। श्वास आता है और जाता है—बस इसी दशा को लगातार देर तक देखता रहे। दीर्घ समय तक सावधानी से श्वास को देखते-देखते मन एकाग्र हो जाता है।

### नादयोग

विजली के तारों के खंभों के पास खड़ा होकर तारों में दौड़ती विजली के कारण होती हुई ध्वनि को सुना जा सकता है। इसी प्रकार हमारे शरीर में नस-नाड़ियां दौड़ी हैं और उनमें निरंतर रक्त वहन करता है। सारा शरीर एक कारखाने के समान चलने वाला यंत्र है जिसमें ध्वनि होना स्वाभाविक है। यदि साधक अपने कानों को वंद कर उसे सुने तो तत्काल ध्वनि सुनाई देगी। जो नाद सुनने के अभ्यासी होते हैं वे विना कान वंद किये नाद सुनते रहते हैं, क्योंकि उनके मन में उसके संस्कार बन जाते हैं। इस प्रकार साधक यदि नाद सुनने में मन लगाता है तो उसमें शीघ्र मन एकाग्र हो जाता है।

### विंदुयोग

त्रिकुटी, कंठ, हृदय या नाभि में एक चमकते हुए विंदु की कल्पना कर उसमें मन को लगाने से भी एकाग्रता आती है।

### समीक्षा

जिनको स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान नहीं है वे

साधक इस भ्रम तथा लोभ में रहते हैं कि ईश्वर का दर्शन कब होगा! ऐसे साधकों को प्रायः भ्रामक गुरु लोग यही बता देते हैं कि दृष्टियोग में दिखता ज्योति-प्रकाश ईश्वर है, तथा श्वास, नाद, शब्द, विन्दु आदि ईश्वर है और साधक आभास और दृश्य को ईश्वर मानकर भ्रम करने लगते हैं कि हमने ईश्वर का दर्शन कर लिया।

वस्तुतः ज्योति-प्रकाश दृश्य है और उसका द्रष्टा मैं चेतन हूं। द्रष्टा श्रेष्ठ है, दृश्य नहीं। इसी प्रकार शब्द श्राव्य है, उसका श्रोता मैं चेतन हूं। श्रोता श्रेष्ठ है, श्राव्य नहीं। वैसे ही श्वास हवा है, विंदु मन की एक कल्पना है। इन सबका साक्षी एवं कल्पक चेतन है। मैं चेतन सबका कल्पक, द्रष्टा, साक्षी, मंता, बोद्धा, ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप हूं।

जैसे शिशुओं को प्रसन्न करने के लिए माताएं उनके हाथों में चटुआ दे देती हैं और वे मुख में डालकर चाटने लगते हैं, वैसे आरंभिक साधक अपने मन को ठहराने के लिए अंधकार, प्रकाश, ज्योति, श्वास, नाद, शब्द, विंदु आदि को आलंबन अर्थात सहारा बनाकर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। ये आलंबन साधक का अंतिम लक्ष्य नहीं है। अंतिम लक्ष्य तो स्वरूपस्थिति एवं आत्मलीनता है।

ऊपर जो क्रियायोग के अनेक रूप बताये गये हैं उनमें दृष्टियोग तथा स्वरयोग अधिक उपयोगी हैं। बंद

आंखों में अंधकार या प्रकाश पर या श्वास पर चित्त केन्द्रित करके अभ्यास करना अधिक अच्छा हैं।

यह सावधानी रखना चाहिए कि किसी भी आलंवन में मन एकाग्र करने के समय अपना अस्तित्वबोध वना रहे कि मैं द्रष्टा शुद्ध चेतन हूं। मैं नेत्रदृश्य का, श्वास का, नाद का, शब्द का, विंदु का देखने वाला, उनका द्रष्टा साक्षी हूं। किसी चित्र, अंधकार, प्रकाश, श्वास, नाद, विंदु आदि में नहीं लीन होना हैं, अपितु निज स्वरूप में लीन होना है।

## विवेक परिपक्व होने पर

१. स्थिर आसन से बैठा हुआ साधक यह विचार करे कि शरीर हड्डियों का पिंजरा है। इसमें मांस, मल, मूत्र, रक्त आदि भरे हैं, ऊपर से गीला चाम लपेटा हैं। यही शरीर की वास्तविकता है। भावपूर्वक ऐसा विचार करने पर मन सबसे अनासक्त होकर शांत हो जायेगा।

२. साधक विचार करे कि अपना माना हुआ शरीर क्षत-विक्षत पड़ा है। इसके अंग बिखरे हैं। यह शरीर मर गया है, सड़ गया है। इसमें लोने पड़ गये हैं। यह जला दिया गया है। इसके नष्ट हुए सैकड़ों वर्ष बीत गये हैं। ऐसा भावपूर्वक विचार करते-करते मन पूर्ण अनासक्त होकर एकाग्र हो जायेगा।

३. शय्या पर विश्राम करते समय शरीर की मरण-भावना करने पर मन शांत हो जाता है।

४. भूमण्डल मिट्टी है। शरीर मिट्टी है। मिट्टी पर मिट्टी पड़ी है। मैं इनसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मुझे इनसे कोई प्रयोजन नहीं। इस भावना में तदाकार होने पर मन शांत हो जाता है।

५. मैं एक उच्च शिखर पर बैठा हूं और देख रहा हूं कि सारा संसार जलमग्न है। सब कुछ जलमय है। ऐसा विचार करते-करते मन पूर्ण शांत हो जायेगा।

## साधना के उच्चतम स्वरूप : विवेक, द्रष्टा और स्थिति

### विवेक

साधक स्थिर आसन से बैठे और विचार करे कि सारा संसार, संसार के सभी प्राणियों के शरीर, संसार के सभी पदार्थ तथा अपना माना हुआ शरीर जड़, क्षणभंगुर, प्रवाह रूप तथा नश्वर हैं, और मैं इन सबका द्रष्टा, अविनाशी, शुद्ध चेतन, निष्काम एवं पूर्ण शांत स्वरूप हूं।

अहम् शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूपम्
अजराहम् अमराहम् अखंडम् अनूपम्

मैं शुद्ध चैतन्य हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, अजर हूं, अमर हूं, अखंड और विलक्षण हूं—इस भावाकार वृत्ति में

साधक पूर्ण तत्पर हो जाय। उपर्युक्त धारणा में विलंब तक तत्पर रहने पर मन स्वरूपाकार वृत्ति में स्थिर हो जाता है।

**द्रष्टा**

साधक स्थिर आसन से बैठे और कुछ न सोचने की स्थिति में जाने के लिए मन का द्रष्टा होकर उसे देखे कि वह शांत हो जाय। इस अवस्था में केवल संकल्पों, स्मरणों एवं ख्यालातों को तटस्थ होकर देखे और उन्हें छोड़ता रहे। जैसे नदी के तट पर बैठा व्यक्ति नदी की तरंग-मालाओं को देखता है और केवल देखता है, उनमें बहता नहीं है, वैसे इस दशा में साधक स्मरणों को केवल तटस्थ एवं उदासीन भाव से देखता रहे, उनमें मिलकर बहे नहीं।

इस अभ्यास के मूल में यह भाव रखे कि मैं अविनाशी शुद्ध चेतन हूं, सारे संकल्प एवं स्मरण छूट कर मेरी अपने आप में स्थिति हो जाय। विलंब तक स्मरणों को त्यागने की दृष्टि से उन्हें देखते-देखते जब स्मरण शांत होने लगते हैं तब जीव को अपने आप में विश्राम मिलने लगता है। जब स्मरण बिलकुल शांत हो जाते हैं तब द्रष्टा चेतन स्वतः शेष रह जाता है।

**स्थिति**

स्थिति अंतिम गंतव्य है। स्मरणों के शांत होने पर असंगभाव हो जाता है और जीव अपने स्वरूप में

३. शय्या पर विश्राम करते समय शरीर की मरण-भावना करने पर मन शांत हो जाता है।

४. भूमण्डल मिट्टी है। शरीर मिट्टी है। मिट्टी पर मिट्टी पड़ी है। मैं इनसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। मुझे इनसे कोई प्रयोजन नहीं। इस भावना में तदाकार होने पर मन शांत हो जाता है।

५. मैं एक उच्च शिखर पर बैठा हूं और देख रहा हूं कि सारा संसार जलमग्न है। सब कुछ जलमय है। ऐसा विचार करते-करते मन पूर्ण शांत हो जायेगा।

## साधना के उच्चतम स्वरूप : विवेक, द्रष्टा और स्थिति

### विवेक

साधक स्थिर आसन से बैठे और विचार करे कि सारा संसार, संसार के सभी प्राणियों के शरीर, संसार के सभी पदार्थ तथा अपना माना हुआ शरीर जड़, क्षणभंगुर, प्रवाह रूप तथा नश्वर हैं, और मैं इन सबका द्रष्टा, अविनाशी, शुद्ध चेतन, निष्काम एवं पूर्ण शांत स्वरूप हूं।

अहम् शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूपम्
अजराहम् अमराहम् अखंडम् अनूपम्

मैं शुद्ध चैतन्य हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, अजर हूं, अमर हूं, अखंड और विलक्षण हूं—इस भावाकार वृत्ति में

साधक पूर्ण तत्पर हो जाय। उपर्युक्त धारणा में विलंब तक तत्पर रहने पर मन स्वरूपाकार वृत्ति में स्थिर हो जाता है।

**द्रष्टा**

साधक स्थिर आसन से बैठे और कुछ न सोचने की स्थिति में जाने के लिए मन का द्रष्टा होकर उसे देखे कि वह शांत हो जाय। इस अवस्था में केवल संकल्पों, स्मरणों एवं ख्यालातों को तटस्थ होकर देखे और उन्हें छोड़ता रहे। जैसे नदी के तट पर बैठा व्यक्ति नदी की तरंग-मालाओं को देखता है और केवल देखता है, उनमें बहता नहीं है, वैसे इस दशा में साधक स्मरणों को केवल तटस्थ एवं उदासीन भाव से देखता रहे, उनमें मिलकर बहे नहीं।

इस अभ्यास के मूल में यह भाव रखे कि मैं अविनाशी शुद्ध चेतन हूं, सारे संकल्प एवं स्मरण छूट कर मेरी अपने आप में स्थिति हो जाय। विलंब तक स्मरणों को त्यागने की दृष्टि से उन्हें देखते-देखते जब स्मरण शांत होने लगते हैं तब जीव को अपने आप में विश्राम मिलने लगता है। जब स्मरण बिलकुल शांत हो जाते हैं तब द्रष्टा चेतन स्वतः शेष रह जाता है।

**स्थिति**

स्थिति अंतिम गंतव्य है। स्मरणों के शांत होने पर अमनीभाव हो जाता है और जीव अपने स्वरूप में

स्थित हो जाता है। इसके पहले द्रष्टा अभ्यास तक ही साधना है। जब सारे स्मरण शांत हो गये, तब अपने आप चेतन शेष है। इस दशा में गहरी शांति रहती है और शुद्ध चेतन शेष रहता है। अथवा कह सकते हैं कि शुद्ध चेतन स्वयं शांत शेष रहता है।

## एक सावधानी

उपर्युक्त अवस्था में निद्रा एवं तंद्रा बिलकुल न हो। निद्रा आने पर पूर्ण अचेती हो जाती है और तंद्रा आने पर स्वप्नवत मानसिक चित्रावली आती है। इन दोनों के आने पर ध्यान की बात ही समाप्त हो जाती है। ध्यान-काल में निद्रा आना विघ्न है और तंद्रा आना उससे भी बुरी बात है। अतएव साधक जैसे संकल्पों एवं स्मरणों को देख-देख कर उन्हें त्यागता है, वैसे उसे चाहिए कि निद्रा और तंद्रा से भी सावधान रहे और उनका द्रष्टा बनकर उन्हें भी त्याग दे।

ध्यान की पूर्ण दशा कोई अचेती नहीं है, किन्तु पूर्ण जाग्रत है और चित्तवृत्ति का पूर्ण विश्राम है।

प्रात:काल और सायं ध्यान करने का अच्छा समय है, वैसे जब जिसको समय मिले, करना चाहिए। अपनी श्रेणी, शक्ति और योग्यता के अनुसार कम-से-कम आधा घंटा, एक घंटा, दो घंटे, या जितना जिससे हो सके नित्य ध्यानाभ्यास करे।

## ध्यानाभ्यास के बाद

ध्यान से उठने के बाद साधक का मन मक्खन हुआ रहता है। उसमें कोई आग्रह, ग्रंथि, तनाव एवं उद्वेग नहीं रहता। वह प्रसन्न और आनंदमय स्थिति में होता है। अभ्यास काल में संकल्पों का अंत हो जाना ध्यान एवं समाधि की सफलता है और उससे उठने के बाद मन का स्वरूपविवेक में ढल जाना ध्यान का फल है। ध्यान में संकल्पहीन हो जाय तथा व्यवहार में राग-द्वेष-रहित सदैव विवेकमग्न रहे, यही जीवन-आनंद की पराकाष्ठा है, यही जीवन्मुक्ति है और यही विदेह मुक्ति का शंबल है।

## द्रष्टा-अभ्यास की दुरूहता तथा सहजता

स्मरणों एवं संकल्पों में संसार प्रतिबिंबित एवं चित्रित है। उन्हें छोड़-छोड़कर निज स्वरूप में स्थित होना द्रष्टा-अभ्यास है और यही संसार से छूटने तथा मुक्त होने का साधन है। यह दुरूह एवं कठिन इसलिए लगता है कि अनादिकाल से जीव अपने पूर्णतृप्त स्वरूप को भूलकर संसार के पांचों विषयों में आसक्त होने का आदती है। भूल-वश गंदी आदत ही जीवन लगती है। तंबाकू खाने वालों को तंबाकू खाना जीवन लगता है। उसे तंबाकू से अलग रहने को कहा जाय तो महा दुख लगता है। इसी प्रकार बीड़ी-सिगरेट, चाय, पान, शराब

आदि की आदत की बात है। जो व्यक्ति जिसमें आसक्त है उसे उसका सेवन ही जीवन लगता है। काम-भोग, देहाभिमान तथा पांचों विषयों के भोग की यही बात है। हम अपने शुद्ध स्वरूप की भूल से बाह्य प्राणी-पदार्थों एवं संसार में आसक्त हैं, इसलिए उनके भोग तथा स्मरणों को छोड़कर रहना फांसी लगती है। द्रष्टा-अभ्यास और स्वरूपस्थिति के मार्ग में इसी से दुरूहता लगती है।

जब हम निरंतर सत्संग सेवा, स्वाध्याय तथा विवेक-चिंतन के अभ्यास से मन की अविद्या को नष्ट करते जाते हैं, हमारे स्वरूपज्ञान का अभ्यास तथा वैराग्य निरंतर बढ़ते जाते हैं, तब हमारे मन से संसार के भोग फीके होते जाते हैं। हमारी दृष्टि में संसार के भोग जितना नीरस तथा दुखपूर्ण होते जायेंगे, उतना द्रष्टा-अभ्यास सहज एवं सरल होता जायेगा। जब निरंतर के विवेक-ज्ञान से संसार दुखपूर्ण, स्वप्नवत विजाति, क्षणिक, नश्वर तथा छूटने वाला हर समय प्रतीत होने लगता है जैसा कि वस्तुतः वह है, तब द्रष्टाअभ्यास अत्यंत सरल हो जाता है। नीरस, दुखपूर्ण तथा। अंततः छूटने वाले को छोड़ना बुद्धिमानी का काम है, और उसके छोड़ने में जब परम शांति, निर्भयता एवं अखंड आनंद मिले, फिर क्या पूछना!

द्रष्टा-अभ्यास में परिपक्व साधक का उठते-बैठते, लेटे, चलते—सब समय द्रष्टापन सहज हो जाता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वह इन समयों में संकल्प-हीन होता है, किंतु जागरूक होता है। वह सारा काम ध्यान में करता है। वह हर समय सारे दृश्यों को अपने शुद्ध स्वरूप चेतन से अलग देखते हुए अपने आप के भाव में जाग्रत रहता है। जो द्रष्टा-अभ्यास पहले कभी अत्यंत दुरूह लगता था, वह अभ्यास की परिपक्वता में स्वभावसिद्ध, सहज एवं सरल हो जाता है।

## जीवन की परम उपलब्धि शांति है

जीवन में प्राणी-पदार्थों, पद-मर्यादाओं की जितनी माया मिलती है, सब सावन के पानी की तरह दो दिन में बहकर लुप्त हो जाने वाली है। सारी माया का केंद्रबिंदु अपना माना हुआ शरीर ही आज-कल में खो जाने वाला है। अतएव माया की उपलब्धि जीवन की सफलता नहीं है। जीवन की सफलता है स्थिर शांति की प्राप्ति, जिसमें पूर्ण तृप्ति और निर्भयता है। जो जीवन में सब समय शांतात्मा है वह शरीरांत के बाद भी शांत स्वरूप शेष रहेगा।

वैराग्य और ध्यानाभ्यास से ही आत्मशांति मिलेगी।

आत्मज्ञान के सुंदर विचार और ध्यानाभ्यास से समस्त श्रेणी के मनुष्यों को अपनी योग्यता के अनुसार शांति-लाभ होगा। गृहस्थ, विरक्त, व्यापारी, किसान, नौकरीपेशा वाले तथा छात्र-छात्राएं या जो भी मनुष्य हों, ध्यान से सबको लाभ होगा।

## ईश्वर-दर्शन का भ्रम

वेदों में तो ईश्वर-दर्शन की चर्चा है ही नहीं, अध्यात्म की प्राचीनतम पुस्तकें ग्यारह उपनिषदों में भी कहीं ईश्वर-दर्शन की बात नहीं है। छहों वैदिक शास्त्रों में भी ईश्वर-दर्शन के सूत्र नहीं है। बौद्ध-जैन इस चर्चा से दूर हैं ही। बुद्धकाल के बाद से जब से महाकाव्यों और पुराणों की रचना का प्राबल्य हुआ तब से ईश्वर-दर्शन-चर्चा की बहिया आ गई। इसी बीच पांचरात्रों, कृष्णोपासकों, भागवतों, वैष्णवों एवं पीछे श्री राम-उपासकों का प्राबल्य हुआ और ग्रंथों में ईश्वर-दर्शन के वर्णन का बोलवाला हो गया। इन कल्पित कहानियों को पढ़-सुन कर जनता में महा भ्रम फैल गया कि ईश्वर के दर्शन होते हैं।

पातंजलि योग-दर्शन जो योग-साधना का शास्त्र है वह कहीं भी ईश्वर-दर्शन की चर्चा नहीं करता है। वह चित्त के पूर्ण निरुद्ध होने पर द्रष्टा जीव की अपने स्वरूप में स्थिति बतलाता है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (१/३)।

ध्यान की पूर्णता है सभी संकल्पों का अंत, यह सभी मत के साधक मानते हैं। अब विचारना यह है कि जब सारे संकल्प एवं स्मरण ही शांत हो गये, तब ईश्वर का दर्शन किससे करेंगे! मन ही कुछ ग्रहण करने का साधन है और जब वही लीन हो गया तब कुछ ग्रहण नहीं हो

सकता। यदि कुछ आभास होता है तो वह मन का ही आभास है, फिर तो ध्यान की पूर्णता नहीं है। सद्‌गुरु कबीर ने इस पर व्यंग्य किया है कि जो राम को आंखों से देखने के लिए मतवाले हैं वे अपने मन के कल्पित आभास को देखकर मन ही मन मग्न होते हैं, परंतु वह दर्पण की सुंदरी है जो हाथ में आने वाली नहीं है।[१]

वस्तुतः मन की जिस कल्पना में हमारी दृढ़ धारणा हो जाती है और वह बहुत काल के अभ्यास में परिपक्व हो जाती है तब वह स्वप्न में दिखती है तथा जाग्रत में भी समय-समय उसका आभास होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, ईसा, बुद्ध, महावीर, कबीर तथा अन्य महापुरुषों के भावुक भक्त उनके दर्शन अपने मन के आभास तथा स्वप्न में करते रहते हैं। कामी को सर्वत्र कामिनी दिखती है, लोभी को धन, क्रोधी को हिंसा-हत्या तथा मोही को अपना मोहक व्यक्ति।

इन पंक्तियों के लेखक का अपना ही अनुभव है। यह अपनी बारह वर्ष की उम्र के बाद से ही संध्योपासना के द्वारा ध्यान में लग गया था, भक्ति-भावना तो पहले से ही थी। यह शिव, विष्णु, राम और कृष्ण का भक्त था। चारों में समान भक्ति थी और विरह

---

१. जो मतवारे राम के, मगन होहिं मन माँहि।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाँहि॥
(बीजक, साखी २७९)

था। विरह भावना की इतनी तीव्रता थी कि अनेक बार स्वप्न में इन इष्टों के दर्शन और बात तो होती ही थी, जाग्रत में ही अनेक बार आंखें बंद करने पर ये आस-पास दिखाई देते थे। यह सब इसलिए होता था कि इनमें दृढ़ धारणा थी और मन में अभ्यास दृढ़ हो गया था। जब सत्तरह-अठारह वर्ष की उम्र में सद्गुरु कबीर के पारख सिद्धांत को समझा तब यह भावुकता समाप्त हो गयी। कबीरपंथ में आने के बाद ऐसे भी भावुक कबीर-प्रेमी मिले जिन्होंने बताया कि हमने कबीर साहेब के साक्षात दर्शन किये हैं। इलाहाबाद हाईकोर्ट के एक वरिष्ठ जज जब मिलने आये तब उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से कहा कि आपको कबीर साहेब से ऐसा साक्षात्कार हो सकता है जैसे हम लोग साक्षात बैठे हैं। अर्थात उनके साक्षात दर्शन हो सकते हैं।

उपर्युक्त भावुकों से सत्यज्ञान की आशा नहीं की जा सकती। जो संसार के महापुरुष देहधारी रूप में हुए हैं, वे अपने शरीर छोड़ देने के बाद कभी किसी से नहीं मिल सकते, भले उनको भगवान, ईश्वर आदि कहने की भूल की गयी हो। वे महापुरुष अपने शरीर छोड़ देने के बाद अपने कर्मानुसार गति पाये होंगे। पूर्व रूपों में पुनः किसी से मिलने की बात ही नहीं हो सकती।

आत्म-भिन्न निर्गुण-निराकार माना गया ईश्वर मन की कल्पना ही है जो मन का ही आभास है। इस कल्पना का ध्यान करने से मन में आकाश-बादल आ

सकते हैं। जो ऐसी कल्पना का अभ्यासी है, उसके मन में उसका आभास हो सकता है, परंतु जब उसका भी मन शून्य हो जायेगा, अर्थात जब उसका भी चित्त पूर्ण निरुद्ध हो जायेगा तब उसके मन का आभास खो जायेगा और मन का कल्पित ईश्वर मन के साथ ही खो जायेगा।

अतएव ध्यान का फल कल्पित ईश्वर का दर्शन नहीं है, किंतु स्वरूपस्थिति एवं आत्मशांति है।

कहते हैं कि योग का अर्थ ही है जुड़ना। इस प्रकार जीव का ईश्वर से जुड़ जाना योग है। परंतु महर्षि पतंजलि का योग-दर्शन योग का अर्थ जोड़ना नहीं, तोड़ना मानता है। प्रकृति और पुरुष का जो संबंध है इसका विच्छेद हो जाना ही योग है। इसी वास्तविकता को प्रकट करते हुए राजा भोज ने महर्षि पतंजलि की प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है—"महर्षि पतंजलि की अपूर्व वाणी की जय हो, जिसमें प्रकृति और पुरुष के वियोग को भी योग कहा गया है।"[१]

अतएव योग, ध्यान तथा समाधि का फल है प्रकृति-पुरुष का वियोग होकर पुरुष (चेतन) का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना।

---

१. पतंजलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया॥ राजा भोज॥

योग आत्म-भिन्न किसी ईश्वर की प्राप्ति नहीं बताता हैं, किन्तु कैवल्य बताता है। योग-दर्शन का अंतिम सूत्र है—"जब पुरुष (चेतन) के लिए गुणों का कोई प्रयोजन नहीं रहा और वे अपने कारण में लीन हो गये, तब यही कैवल्य है। अथवा चेतन द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना कैवल्य है।"[१]

अतएव ध्यान का फल किसी ईश्वर के दर्शन, उससे मिलना या कुछ पाना नहीं है, किन्तु सारे मनोविकारों का नाश होकर जीव का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है।

## पारखी-संत-भक्तों में ध्यानांभ्यास की प्राचीनता

सन १९५० ई० में इन पंक्तियों के लेखक को पारखी संत सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब तथा अन्य पारखी संतों के दर्शन मिले। उनके द्वारा पारख सिद्धांत एवं स्वरूप का बोध मिला और देखा कि पारखी संत सुबह-शाम द्रष्टा-अभ्यास अर्थात ध्यान में बैठते हैं। जब सन १९५३ ई० में साधु-मार्ग में ही आ गया तब से देखा कि पारखी संत खूब ध्यान करते हैं। लेखक भी पारख सिद्धांत प्राप्त करने के समय से सगुण उपासना से हटकर द्रष्टा अभ्यास में लग गया। पारखी संतों को देखा कि वे

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ४/३४ ॥

आश्रमों में, बाग, वन, नदीतट या किसी भी एकांत स्थल में सुबह-शाम ध्यानाभ्यास में लीन रहते हैं। परंतु कहीं भी सामूहिक ध्यान का नियम नहीं था।

जब सन १९७७ ई० में इलाहाबाद में 'पारख प्रकाशक कबीर संस्थान' नामक संस्था का स्थापन हुआ, उसके बाद से वहां प्रातः प्रवचन के पहले आधे घंटे का सामूहिक ध्यान का नियम बनाया गया जिसे सब आश्रम-वासियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। उसके वर्षों बाद सुबह प्रवचन के पहले एक घंटा तथा रात डेढ़ घंटे पाठ-प्रवचन के बाद साढ़े नौ से दस तक आधा घंटा सामूहिक ध्यान का नियम बढ़ा दिया गया। इस प्रकार प्रतिदिन डेढ़ घंटे सामूहिक ध्यान चलने लगा। व्यक्तिगत जो जितना करे उसके ऊपर निर्भर है।

इसके बाद ध्यान पर जोर डालने के लिए इलाहाबाद कबीर संस्थान में साप्ताहिक ध्यान का शिविर लगाया जाने लगा, जिसमें सभी साधक प्रायः मौन रहते हैं और प्रतिदिन सुबह साढ़े पांच से रात साढ़े नौ तक चार बैठकों में आठ घंटे ध्यान में बैठते हैं, जिनमें प्रातः-सायं आधा-आधा घंटा ध्यान पर प्रवचन भी होता है।

जब ऐसा अनुष्ठान प्रथम बार हुआ तब उसके पूर्ण होने के कुछ दिन बाद ही एक अपने पुराने मित्र ने जो कि प्रगतिशील विचारक, अध्यवसायी और चिंतक हैं, इन पंक्तियों के लेखक से आंखें मटका कर कहा कि

कबीर साहेब ने कहा है "खुले नैन हंसि-हंसि पहिचानों" और आप सबकी आंखें बंद करवा कर उन्हें ध्यान करने के चक्कर में फंसाते हैं। आप संत-साधु लोग करें तो करें, गृहस्थों का समय इसमें क्यों बरबाद करते हैं!

मैंने उनसे कहा कि कबीर साहेब ने "खुले नैन हंसि-हंसि पहिचानों" कहा है, परंतु "तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले" भी कहा है। ध्यान शांति का साधन है और इससे जीवन का अंतिम लक्ष्य प्राप्त होता है, चित्त एकाग्र होकर आत्मस्थिति होती है।

उन्होंने कहा कि यह सब अतिशयोक्ति है।

मैंने कहा कि जिसे मैं अपने कैशोर से ही कर रहा हूं और जिसके महालाभ से जीवन सराबोर है उसे आप झुठला नहीं सकते। मैं इलाहाबाद में हूं और कोई कहे कि आप लखनऊ में हैं तो मैं इसे कैसे मान सकता हूं!

इस उत्तर पर वे चुप हो गये। फिर अगले वर्ष जब पुनः साप्ताहिक सघन ध्यान का शिविर लगाया गया, तब वे प्रतिदिन दो बैठकों में चार घंटे ध्यान में बैठने लगे। लगातार पूरे सत्र तक उन्होंने सबके साथ प्रतिदिन चार-चार घंटे अभ्यास किया। शिविर समाप्त होने के दो महीने बाद उन्होंने कहा—"मैंने गत वर्ष ध्यान के संदर्भ में आप के सामने कुतर्क करके ठीक नहीं किया था। इस वर्ष लगातार ध्यान से जो मुझे लाभ हुआ है उसको

मैं जानता हूं। अब मैं प्रतिदिन दो घंटे ध्यानाभ्यास में बैठता हूं। ध्यानाभ्यास से मेरा चिड़चिड़ापन घटा है, मन-इंद्रियों को काबू करने की शक्ति बढ़ी है, हार्ट का दर्द कम हुआ है और मन में शांति आई है। उपर्युक्त बातों को उन्होंने कई बार दोहराया।

## साधना की अंतिम कसौटी सहनशीलता है

मन के सारे उद्वेगों का मर जाना साधना का फल है। सद्‌गुरु कबीर ने साखी ग्रंथ में कहा है—"दुष्टों के वचन कांटे गड़ने के समान हैं, परंतु संत जन उन्हें हटा देते हैं। बिजली समुद्र में गिर कर क्या जला सकेगी।"[१] उन्हें अपने स्वतंत्र विचारों के कारण जीवन आरंभ में पुरोहितों तथा राज्य-शासन से अनेक कष्ट मिले थे, परंतु वे किसी पर क्रुद्ध एवं क्षुब्ध नहीं हुए थे। इसलिए पीछे सब विरोधी उनके चरणों में झुक गये थे।

एकनाथ महाराज नदी से स्नान करके निकले और रास्ते-रास्ते जा रहे थे। एक पेड़ पर बैठे एक उन्मादी युवक ने उन पर थूक दिया। एकनाथ महाराज ने पुनः नदी में जाकर स्नान किया और उसी रास्ते से निकले। उस युवक ने पुनः उन पर थूक दिया। इस तरह वह इक्कीस बार थूकता रहा तथा एकनाथ महाराज प्रशांत

---

१. करक गड़न दुर्जन बचन, रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकेगी जारि॥ साखी ग्रंथ॥

चित्त हर बार नदी में स्नान करते रहे, वे क्षुब्ध नहीं हुए। अंततः उन्मादी युवक विनम्र होकर एकनाथ महाराज के चरणों में झुक गया और उनसे क्षमा मांगी। एकनाथ महाराज की यह साधना इसलिए नहीं थी कि वह युवक उनके चरणों में झुक जाय, प्रत्युत वे अपनी सहनशीलता के सहज स्वभाव से अपना आचरण कर रहे थे। संसार के सभी उच्चकोटि के साधक सहनशील हुए हैं।

सामाजिक-न्याय तथा राज्य-शासन अपनी जगह पर ठीक है, परंतु साधक को तो अपने समस्त भौतिक अहंकार को पूर्णतया मार डालना है। साधक के व्यक्तित्व का पूर्ण उत्तेजना-हीन और प्रशांत हो जाना ही उसकी साधना की पूर्णता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी साधक में कुछ झुंझलाहट एवं उत्तेजना देखकर यह टिप्पणी करना शुरू कर दिया जाय कि यह क्या साधक है जब उत्तेजना नहीं छोड़ सका। आप अपनी उत्तेजना मारकर पूर्ण प्रशांत हों, दूसरों को देखने का अधिकार आपको नहीं है। फिर साधक आनन-फानन में सिद्ध नहीं हो जाता है। यह अहंकार-ममकार का अनादिकालीन कोढ़ दीर्घकाल की साधना में क्षीण होते-होते क्षीण होता है अतएव हर साधक अपने अहंकार-ममकार को देखे और उन्हें दूर करके पूर्ण प्रशांत हो। श्री रामरहस साहेब ने कहा है—

"सब मनुष्य अहंकार में पड़े हैं, किन्तु साधक एवं साधु अपने अहंकार को देखता है और उससे सर्वथा अलग रहता है तथा स्वरूपस्थिति के मार्ग में निर्विघ्न चलता है।"[१]

**कहहिं कबीर कोइ संत जन जौहरी, कर्म की रेख पै मेख मारे।**

जीव अपने बनाये कर्म-बंधनों में अनादिकाल से बंधा है। इनको काट कर मुक्त हो जाना आध्यात्मिक साधक का परम कर्तव्य है। सेवा, स्वाध्याय, आत्मचिंतन तथा ध्यान के निरंतर अभ्यास से जीव के कर्म-बंधन कटते हैं। भूल-दशा में सांसारिक-सुख पाने के लिए पाप-कर्म किये जाते हैं और पुण्य-कर्म भी किये जाते हैं सांसारिक-सुख पाने के लिए ही। अतएव ये कर्म जीव के लिए बंधन बनते हैं।

हम से जो कुछ कर्म होते हैं उनके सूक्ष्म संस्कार हमारे मन में अंकित हो जाते हैं। उनका फल-भोग कर नाश होता है या साधक उनका विवेक-ज्ञान से नाश करता है। सामान्य जीव तो कर्म करते हैं और उनके फल-भोग की धारा में बहते हैं किन्तु जिसे यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा स्वरूप सारे कर्म-प्रपंचों से रहित

---

१. हन्ता मा सबहीं पड़े, हंता देखै साध।
हंता से न्यारा रहै, गुरुमुख दृष्टि अबाध॥
(पंचग्रंथी, गुरुबोध, दोहा २३१)

शुद्ध-बुद्ध है, वह विषय-भोगों को छोड़ देता है और सारे जड़-दृश्यों से विरक्त होकर निज स्वरूप चेतन में ही अनुरक्त हो जाता है। उसके मन से शरीर से लेकर संसार तक सारे जड़दृश्यों के अहंकार-ममकार समाप्त हो जाते हैं। इसलिए उसके मन के काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि मनोविकार धुल जाते हैं।

ऐसा साधक सेवा, स्वाध्याय और आत्म-चिंतन (विवेकज्ञान) से अंतर्मुखता की महान शक्ति प्राप्त कर लेता है, और अंततः ध्यान-समाधि की गहराई में उतर कर मन को पूर्ण रूप से स्ववश कर लेता है। ऐसा साधक हर समय अपने मन का साक्षी रहता है। उसके मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष न रहने से उसके सारे पूर्व के कर्म-संस्कार ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। जैसे गैस-बत्ती में लगा हुआ मेंथल जल कर खाक हुआ रहता है, परंतु जब तक टूट नहीं जाता तब तक प्रकाश देता है, किन्तु उसे खोलकर दूसरी गैस बत्ती में नहीं बांधा जा सकता; वैसे राग-द्वेष विहीन पूर्ण अनासक्त साधक का मन सारे कर्म-बंधनों से मुक्त रहता है, परंतु जब तक शरीर है वह जीवन-यात्रा का व्यवहार करता है, किन्तु अब वह दूसरे शरीर का निर्माण नहीं कर सकता।

आसक्ति ही लासा है, उसके नष्ट हो जाने पर पुनः संसार से जोड़ने वाली कोई शक्ति नहीं रहती। सद्गुरु

कबीर ने कहा है "तारे तब तक टिमटिमाते हैं जब तक सूर्य उदित नहीं होता, इसी प्रकार जीव तब तक कर्मों के वश भटकता है जब तक पूर्ण ज्ञान उदय नहीं होता।"[१]

देहाभिमान और विषयासक्ति के अधीन होकर ही जीव सारे कर्म-बंधनों को बनाता और उनमें उलझता है। जब यह पूर्ण बोध हो जाता है कि मैं देह नहीं, उससे सर्वथा भिन्न शुद्ध चेतन हूं, विषय-भोग जीवन का फल नहीं, किन्तु उन्हें त्याग कर स्वरूपस्थिति ही जीवन का फल है, तब मनुष्य की दृष्टि ही बदल जाती है। जैसे किसी का निवास-ग्राम पूर्व की ओर हो, और वह भूलकर पश्चिम की ओर जा रहा हो, किसी जानकार दयालु ने उसे रास्ते में मिलकर बताया हो कि तुम्हारा निवास-ग्राम तो पूर्व की ओर है और यह सुनकर वह पश्चिम से लौटकर पूर्व की ओर मुड़ गया हो और चलते-चलते अपने निवास में पहुंच कर विश्राम पा गया हो, वैसे जीव जड़ देह को अपना स्वरूप मानकर संसार के पांचों विषयों में उलझा हुआ बाहर की तरफ दौड़ रहा था। इतने में दयालु सद्गुरु मिले और उन्होंने बताया कि तुम देह नहीं शुद्ध चेतन हो। तुम बाहर दौड़कर

---

१. तौं लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।
तौ लौं जीव कर्म वश डोलै, जौ लौं ज्ञान न पूर॥
(बीजक, साखी २०५)

कहीं विश्राम न पाओगे, विश्राम तो अपने आप में है। तुम्हारा परम-धाम, अचल-धाम आत्मविश्राम है। यह यथार्थ उपदेश सुनकर सुज्ञ जीव इस स्वप्न-संसार से लौटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और उसका सारा भटकना छूट जाता है।

इस प्रकार जो साधक देहाभिमान और विषयासक्ति को छोड़ देता है वह कर्म-बंधनों को जड़ से उखाड़ फेंकता है। पूर्ण ध्यान एवं समाधि की अवस्था में पहुंचकर मोक्ष का पूर्ण अनुभव होता है। इसीलिए यह कबीर-वाक्य ज्वलंतरूप से जगत प्रसिद्ध है—

> कहहिं कबीर कोइ संत जन जौहरी,
> कर्म की रेख पर मेख मारे॥

## ध्यान और समाधि

पहले किसी शुभ आलंबन में मन को एकाग्र करना ध्यान है, किन्तु आगे चल कर सारे संकल्पों का अंत ही ध्यान है। इसी को सांख्यदर्शन में मन का निर्विषय होना ध्यान कहा गया है—"ध्यानं निर्विषयं मनः।" विषय जड़पदार्थ हैं, उनका मन में न रहना ध्यान है। जब तक संकल्प हैं तब तक मन में पदार्थों के चित्र रहते हैं। संकल्पों के अंत हो जाने पर ही मन पदार्थों के प्रतिबिंबों से मुक्त होता है।

निस्तब्धता और निश्शब्दता ध्यान की पूर्णता है। निस्तब्धता है शरीर की अचल स्थिरता अर्थात स्थिर

आसन से बैठे रहना, और निश्शब्दता है शब्द-शून्य हो जाना। मन और वाणी का घनिष्ठ संबंध है। जब तक मन में संकल्प रहते हैं तब तक उनमें शब्दों की गूंज रहती है और जब मन संकल्प-रहित होता है तब शब्द समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान दें, जब हमारे मन में कोई संकल्प उठता है तब उसमें आकार आता है और शब्द आता है, जैसे सड़क की याद हुई तो सड़क का आकार मन में आ गया और स-ड़-क ये तीन अक्षरों का शब्द भी मन में आ गया। इतने में गाय, गोबर, मोटर, मनुष्य आदि के संकल्प एवं स्मरण उठे तो उन-उनके आकार तथा उनके संबंधी शब्द सामने आ गये। अतएव जब तक संकल्प हैं तब तक शब्द-रहित स्थिति नहीं हो सकती। जब संकल्प सर्वथा शांत हो गये तब मन में न कोई आकार रहा और न शब्द। अतएव निश्शब्द होना ध्यान की अंतिम कसौटी है। यही मन और वाणी का अंत है।

वैसे जीवनमुक्त पुरुष के साथ भी मन जीवन पर्यंत रहता है, किन्तु वह तारने वाला होता है। पानी में नावका रहती है तभी वह तैरती भी है। सावधानी यही रखना है कि वह डूबने न पावे, किन्तु तैरती रहे। इसी प्रकार मन के द्वारा ही सारी साधनाएं होती हैं सावधानी यही रखनी चाहिए कि ऐसा मन रहे जो जीवन को तारता रहे, डुबा न दे।

सद्गुरु कबीर ने कहा है—"कंबु-ग्रीवादिमान कुंभ के बंधन में ही पानी टिकता हैं, परंतु पानी को मिट्टी में मिलाये बिना कुंभ नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान के बंधन में ही मन शांत रहता है, परंतु मन के बिना ज्ञान नहीं होता है।"[१]

पूर्ण संकल्पहीन अवस्था पूर्ण ध्यान है, इसको अमनी भाव भी कहते हैं। मन यहां भी रहता है, परंतु शांत रहता है।

संकल्पहीन अवस्था ध्यान है, और इसकी पूर्ण प्रगाढ़ता समाधि है। योगदर्शन के अनुसार किसी एक आलंबन में मन ठहराना धारणा है, इसी धारणा में मन का एकतार चलते रहना ध्यान है तथा अन्य सब कुछ भूलकर केवल धारणा में ही चित्त का लीन हो जाना समाधि है। योगदर्शन में आगे संप्रज्ञात समाधि तथा असंप्रज्ञात समाधि बतायी गयी है। जिसमें विषयबोध बना रहे वह संप्रज्ञात समाधि है और जिसमें विषयबोध समाप्त होकर निर्विकल्पदशा हो जाय वह असंप्रज्ञात समाधि है।

सद्गुरु कबीर ने ध्यान और समाधि दोनों शब्दों में सहज विशेषण लगाया है। "सहज ध्यान रहु सहज

---

१. कुंभै बांधा जल रहै, जल बिनु कुंभ न होय।
ज्ञानै बांधा मन रहै, मन बिनु ज्ञान न होय॥
(साखी ग्रंथ, मन को अंग)

ध्यान रहु'' वीजक के प्रथम कहरा के आरंभ में कहकर तथा ''संतो सहज समाधि भली'' लोक प्रचलित पद में कहकर ध्यान और समाधि के पहले सहज शब्द का प्रयोग किया है।

हर व्यक्ति के व्यक्तित्व के सारे स्थूल-सूक्ष्म अंगों एवं गुणों में विभिन्नता एवं विपमता है, परंतु सबके भीतर चेतन-सत्ता में सहजता है। जैसा कि ग्रंथारंभ में ही निवेदन कर आये हैं कि कोई स्त्री है, तो कोई पुरुप, कोई काला है तो कोई गोरा, कोई लंबा है तो कोई छोटा, कोई प्रतिभावान है तो कोई मंद-बुद्धि इत्यादि, परंतु सबके भीतर समान चेतन तत्व एवं आत्मअस्तित्व है। अतएव भौतिक क्षेत्र में सब में विपमता है, आत्म-अस्तित्व में ही सबमें सहज रूपता है। अतः निज चेतन स्वरूप में लीनता ही सहज ध्यान तथा सहज समाधि है। जब संकल्प नहीं रहे और अपने आप में पूर्ण स्थिति हो गयी, यही ध्यान है और यही समाधि है।

वैसे सावधानी को भी ध्यान कहते हैं। लोग कहते हैं कि भाई, मेरी बात पर ध्यान रखना, सड़क पर चलते समय ध्यान रखना गाड़ी-मोटर से टकरा न जाना। समाधि का अर्थ मानसिक पीड़ा से रहित रहना भी है। आधि का अर्थ मानसिक पीड़ा है और उसका शम हो जाना, शांत हो जाना समाधि है।

वस्तुतः संकल्पों को छोड़कर पूर्ण शांत हो जाना ही स्वरूपस्थ हो जाना है, और ध्यान है तथा यही समाधि

है। जब इससे उठकर व्यवहार में हो तब कहीं भी राग-द्वेष, हर्ष-शोक में न पड़कर समता में वरतना ध्यान तथा समाधि का फल है और कबीर साहेब की भाषा में यह भी सहज समाधि है। "खड़े बैठे सोये उतान। कहैं, कबीर हम एक समान।" सारा जड़ दृश्य क्षणिक, दुखपूर्ण एवं छूटने वाला है, और मैं उससे सर्वथा असंग, शुद्ध-बुद्ध, पूर्णकाम, अविनाशी और नित्यमुक्त हूं—इस भाव में पूर्ण स्थित रहना सब समय ध्यान है और सहज समाधि है।

संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाने पर ही जीव अपने आप में अचल विश्राम पाता है और अपने आप में अचल विश्राम ही समाधि है। श्री पूरण साहेब ने कहा है—"जहां अखंड वैराग्य है वहीं अखंड समाधि है। प्रखर वैराग्यवान पुरुष ही उच्चतम साधु एवं संत हैं, वे ही सिद्ध अर्थात पूर्ण तृप्त हैं और महा सौभाग्यशाली हैं।"[१]

अंततः सारी जड़ासक्ति एवं विषयासक्ति सर्वथा त्यागकर और संसार से पूर्ण निष्काम होकर स्वरूपस्थ एवं आत्मलीन होना सहज ध्यान और सहज समाधि है। इस उच्चतम स्थिति तक पहुंचने के लिए साधक को सदाचार, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा ध्यानाभ्यास-द्वारा

---

१. सोई अखंड सामाधि है, जहां अखंड वैराग्य।
सोई संत सोइ साधु है, सोई सिद्ध बड़ भाग॥ वैराग्य शतक॥

निरंतर आगे बढ़ना चाहिए।

## अंतिम फल जीवन्मुक्ति

भक्ति, बोध, वैराग्य तथा ध्यान-समाधि का अंतिम फल है जीवन्मुक्ति की प्राप्ति। जीवन्मुक्ति का अर्थ है सारी इच्छाओं तथा तृष्णाओं का अंत होकर कृतार्थ एवं पूर्णकाम हो जाना। इस अवस्था में कुछ करना और पाना शेष नहीं रह जाता। इस दशा में शरीर और संसार स्वप्नवत लगते हैं। इसलिए संसार और शरीर-संबंधी हानि-लाभ सारहीन लगते हैं। ऐसा पुरुष मिलन-वियोग, हानि-लाभ, अनुकूल-प्रतिकूल आदि में समता की दशा में रहता है।

वह समझता है कि जो करना था कर लिया, जो पाना था पा लिया और जो होना था हो लिया । उसकी दृष्टि में अब कुछ करना, पाना तथा होना शेष नहीं रहा। आत्मलीन पुरुष के लिए शरीर और संसार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जब तक श्वास चलता है तब तक वह सब तरफ से निष्काम होकर जीता है। वह वर्तमान में शांतिसागर में डूबा हुआ आगे अनंतकाल के लिए शांति ही में लीन हो जाता है।

शरीर छूटने का समय उसके लिए उत्साह एवं पर्व का दिन है। इस दुखालय तथा सारहीन संसार से वह पूर्ण विरक्त है और अपनी स्वरूपस्थिति में अविचल विश्राम पा गया है। अब इस नीरस शारीरिक जीवन

और सारहीन संसार में उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रखा है। अब उसका सर्वस्व अचल धाम स्वरूपस्थिति है। अतएव शरीर छूटने का दिन उसके लिए उत्साहवर्धक है जहां शरीर-स्वप्न का अंत तथा अविचल स्वरूपस्थिति विश्राम है।

शरीर में रहते-रहते सारी कामनाओं तथा भय से सर्वथा मुक्त होना—जीवन्मुक्ति है। उसे न किसी से मिलने की इच्छा रहती है और न कुछ छूटने का भय है। वह सब समय संसार से निस्पृह, असंग एवं आत्मलीन है। यह जीवन्मुक्ति स्थिति ही सभी ज्ञान तथा साधनाओं का फल है जिसमें परम निर्भयता एवं पूर्ण विश्राम है।



# भजन

संतो सहज समाधि भली ॥
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते,
दिन दिन अधिक चली ॥ टेक ॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा,
जो कुछ करौं सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत,
भाव मिटाओं दूजा ॥ १ ॥
आँख न मूंदों कान न रूँधो,
काया कष्ट न धारों।
खुले नैन हँसि हँसि पहिचानों,
सुन्दर रूप निहारौं ॥ २ ॥
शब्द निरंतर मनुवा राता,
मलिन वासना त्यागी।
उठत बैठत कबहुँ न छूटे,
ऐसी तारी लागी ॥ ३ ॥
कहत कबीर सहज यह रहनी,
सो परगट करि गाई।
सुख दुख से इक परे परम पद
सो पद है सुखदाई ॥ ४ ॥

## भजन

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ॥ टेक ॥

हीरा पायो गाँठ गठियायो,
बार बार वाको क्यों खोले ॥ १ ॥

हलकी थी जब चढ़ी तराजू,
पूरी भई तब क्यों तोले ॥ २ ॥

सुरत कलारी भइ मतवारी,
मदवा पी गई बिन तोले ॥ ३ ॥

हंसा पाये मानसरोवर,
ताल तलैया क्यों डोले ॥ ४ ॥

तेरा साहेब है घट माहीं,
बाहर नैना क्यों खोले ॥ ५ ॥

कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
साहेब मिल गये तिल ओले ॥ ६ ॥

---



संतो सहज समाधि भली।।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते,
दिन दिन अधिक चली।। टेक।।
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा,
जो कुछ करौं सो पूजा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत,
भाव मिटाओं दूजा।। १ ।।
आँख न मूंदों कान न रूँधो,
काया कष्ट न धारौं।
खुले नैन हँसि हँसि पहिचानों,
सुन्दर रूप निहारौं।। २ ।।
शब्द निरंतर मनुवा राता,
मलिन वासना त्यागी।
उठत बैठत कबहुँ न छूटे,
ऐसी तारी लागी।। ३ ।।
कहत कबीर सहज यह रहनी,
सो परगट करि गाई।
सुख दुख से इक परे परम पद,
सो पद है सुखदाई।। ४ ।।